भारतीय समाज, विधि और समलैंगिकताः भारतीय ज्ञान परंपरा के आलोक में लैंगिक विविधता का पुनर्विचार

20

रवीना टैगोर

सारांश

यह शोध–पत्र भारत में समलैंगिकता के ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा विधिक आयामों का विश्लेषण करते हुए भारतीय ज्ञान परंपरा (Indian Knowledge System) के परिप्रेक्ष्य में समकालीन LGBTQ विमर्श का पुनर्पाठ प्रस्तुत करता है। अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य यह परीक्षण करना है कि क्या समलैंगिकता वास्तव में पश्चिमी प्रभाव की देन है अथवा भारतीय परंपरा में इसका अस्तित्व पूर्व से ही विभिन्न रूपों में विद्यमान रहा है। इस संदर्भ में प्राचीन ग्रंथों, सामाजिक प्रथाओं, धार्मिक व्याख्याओं और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का अध्ययन यह संकेत देता है कि यौन विविधता भारतीय समाज में पूर्णतः अनुपस्थित नहीं थी, बल्कि उसे भिन्न–भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में विविध स्तरों पर समझा और नियंत्रित किया गया। औपनिवेशिक विधिक हस्तक्षेप ने यौनिकता को नैतिक–सामाजिक प्रश्न से परिवर्तित कर दंडात्मक विधिक अपराध के रूप में स्थापित किया, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक दृष्टिकोणों में कठोरता उत्पन्न हुई। आधुनिक संवैधानिक व्यवस्था ने समानता, गरिमा और निजता के सिद्धांतों के आधार पर इस स्थिति का पुनर्मूल्यांकन किया तथा समलैंगिकता को मानवाधिकारों के संदर्भ में पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। तथापि, सामाजिक स्वीकृति की प्रक्रिया अभी भी आंशिक और संघर्षपूर्ण बनी हुई है, जहाँ परिवार, धर्म और सामाजिक प्रतिष्ठा के मानदंड महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा 'एकत्व में विविधता' की अवधारणा के माध्यम से यह संकेत देती है कि पहचान स्थिर नहीं बल्कि अनुभवात्मक और संदर्भगत होती है। इस दृष्टिकोण से समलैंगिकता को नैतिक विचलन के रूप में नहीं, बल्कि मानवीय विविधता की अभिव्यक्ति के रूप में समझा जा सकता है। शोध यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि भारत में समलैंगिकता का प्रश्न केवल विधिक सुधार का विषय नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्पाठ और सामाजिक संवेदनशीलता की दीर्घकालिक प्रक्रिया से संबद्ध है, जिसके माध्यम से परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलित संवाद स्थापित किया जा सकता है।

रवीना टैगोर

शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

Publisher: Anu Books, DOI: https://doi.org/10.31995/Book.AB356-A26. Ch.20
Book Name : भारतीय ज्ञान परम्परा और सामाजिक विज्ञान
Plagiarism Report: 02%

मुख्य शब्द– *समलैंगिकता, लैंगिक विविधता, भारतीय ज्ञान परंपरा, संवैधानिक नैतिकता, सामाजिक संरचना, परिवार एवं विवाह, सांस्कृतिक बहुलता, मानवाधिकार, यौनिक पहचान, परंपरा और आधुनिकता*

प्रस्तावना

भारत में लिंग (gender) और यौनिकता (sexuality)[1] केवल जैविक या व्यक्तिगत अनुभव के विषय नहीं रहे हैं, बल्कि वे सदैव सांस्कृतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय पहचान के निर्माण के केन्द्रीय तत्वों के रूप में कार्य करते रहे हैं। भारतीय समाज की संरचना ऐतिहासिक रूप से परिवार, वंश, धर्म और सामाजिक आचार–संहिताओं पर आधारित रही है, जिसके कारण व्यक्ति की पहचान को व्यक्तिगत न मानकर सामुदायिक ढाँचे में परिभाषित किया जाता रहा है। इस संदर्भ में यौनिकता का प्रश्न निजी क्षेत्र तक सीमित नहीं रहता, बल्कि सामाजिक व्यवस्था, नैतिकता और परंपरा से गहरे रूप में जुड़ जाता है। परिणामस्वरूप, लिंग भूमिकाएँ तथा यौन व्यवहार केवल व्यक्तिगत पसंद के विषय नहीं, बल्कि सामाजिक अनुशासन और सांस्कृतिक स्थिरता के आधार के रूप में देखे जाते रहे हैं। आधुनिक भारत में यह विमर्श विशेष रूप से जटिल हो गया है। आर्थिक उदारीकरण के बाद वैश्वीकरण, मीडिया विस्तार और अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार विमर्श के प्रभाव से पहचान, स्वतंत्रता और अधिकारों से जुड़े प्रश्नों ने नई गति प्राप्त की। इसी काल में समलैंगिकता और लैंगिक विविधता के प्रष्न ने सार्वजनिक बहस का रूप लिया। एक ओर इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता और संवैधानिक समानता के संदर्भ में देखा जाने लगा, वहीं दूसरी ओर इसे सांस्कृतिक मूल्यों के संकट के रूप में प्रस्तुत किया गया। परिणामस्वरूप समलैंगिकता का प्रश्न सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक संघर्ष का विषय बन गया।[2] प्रायः यह तर्क दिया गया कि यह पश्चिमी प्रभाव का परिणाम है, किन्तु ऐतिहासिक, साहित्यिक और धार्मिक स्रोत इस धारणा को चुनौती देते हैं और यह संकेत करते हैं कि भारतीय परंपरा में यौन विविधता के अनेक रूप पहले से विद्यमान रहे हैं। समलैंगिकता के प्रश्न को केवल व्यक्तिगत यौन व्यवहार के रूप में देखना इस विमर्श को सीमित कर देता है। वास्तव में यह प्रश्न समाज, नैतिकता, कानून और पहचान के बीच संबंधों को समझने का माध्यम बन जाता है। भारतीय समाज में 'व्यक्ति' की अवधारणा पश्चिमी उदारवादी समाजों की अपेक्षा भिन्न रही है। यहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता को पूर्णतः निजी अधिकार के रूप में न देखकर सामाजिक दायित्वों के साथ जोड़ा जाता है। विवाह, परिवार और वंश निरंतरता को सामाजिक स्थिरता का आधार माना जाता है, जिसके कारण यौनिकता का सामाजिक मूल्यांकन मुख्यतः प्रजनन और पारिवारिक संरचना के संदर्भ में किया जाता है। इसी कारण समलैंगिकता को केवल एक निजी पहचान के रूप में स्वीकार करना समाज के लिए सहज नहीं रहा है।[3]

भारतीय संदर्भ में 'समाज' या 'समाज व्यवस्था' राज्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली नियामक के रूप में कार्य करती है। पंचायत, जाति–समूह, धार्मिक संस्थाएँ और पारिवारिक परंपराएँ व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण

भूमिका निभाते हैं। कई मामलों में सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति कानूनी दंड से अधिक प्रभावी सिद्ध होती है। विवाह, संबंध और यौन व्यवहार के संदर्भ में सामाजिक नियंत्रण अनौपचारिक किन्तु अत्यंत शक्तिशाली होता है। इस व्यवस्था में नैतिकता का निर्धारण विधिक प्रावधानों से अधिक सामाजिक अपेक्षाओं द्वारा होता है, जिससे समलैंगिक व्यक्तियों के अनुभवों को समझना केवल विधिक अध्ययन का विषय नहीं रह जाता, बल्कि यह सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक मानसिकता के अध्ययन से जुड़ जाता है। भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की विशेषता यह रही है कि इसमें एक ओर विविधता के अनेक रूपों को स्थान मिला, वहीं दूसरी ओर सामाजिक अनुशासन की कठोर संरचना भी विद्यमान रही।[4] धार्मिक ग्रंथों, मिथकों और लोकपरंपराओं में लिंग–लचीलेपन तथा वैकल्पिक लैंगिक पहचानों के संकेत मिलते हैं, परंतु सामाजिक जीवन में इन पहचानों की स्वीकृति सीमित और नियंत्रित रही। इस प्रकार भारतीय समाज में सहिष्णुता और नियंत्रण दोनों समानांतर रूप से उपस्थित रहे हैं। आधुनिक काल में जब व्यक्ति–केंद्रित अधिकारों की अवधारणा मजबूत हुई, तब यह अंतर्विरोध अधिक स्पष्ट रूप से सामने आया। विधिक दृष्टि से भी यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। औपनिवेशिक काल में बने कानूनों ने यौन व्यवहार को अपराध की श्रेणी में रखकर नैतिकता को विधिक स्वरूप दिया। इससे पहले सामाजिक नियंत्रण प्रथाओं और धार्मिक मानदंडों के माध्यम से संचालित होता था। औपनिवेशिक कानूनों के प्रभाव से यौनिकता का नियमन राज्य की शक्ति से जुड़ गया, जिसने सामाजिक दृष्टिकोण को और कठोर बना दिया। आधुनिक संवैधानिक व्यवस्था ने समानता और निजता के सिद्धांतों को स्थापित करते हुए इस दृष्टिकोण को चुनौती दी, किन्तु सामाजिक मानसिकता में परिवर्तन अपेक्षाकृत धीमा रहा।[5]

भारत में यौन विविधता की ऐतिहासिक उपस्थिति

भारतीय ज्ञान परंपरा में यौन विविधता (Sexual diversity) के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जो यह संकेत देते हैं कि लिंग और यौनिकता को भारतीय समाज ने केवल जैविक या प्रजननात्मक श्रेणियों तक सीमित करके नहीं देखा। प्राचीन ग्रंथों, धर्मशास्त्रों और सामाजिक आचार–संहिताओं में विभिन्न प्रकार के यौन व्यवहारों, संबंधों और लैंगिक अभिव्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों में समान–लिंगी संबंधों को सर्वत्र और निरपेक्ष रूप से अपराध घोषित नहीं किया गया, बल्कि उन्हें परिस्थितिनिष्ठ सामाजिक आचरण (situational social conduct) के रूप में समझा गया। इससे स्पष्ट होता है कि यौनिकता को एक बहुस्तरीय सामाजिक वास्तविकता के रूप में ग्रहण किया जाता था। धर्मशास्त्रीय परंपरा में नियमों का उद्देश्य केवल दमन नहीं बल्कि सामाजिक संतुलन बनाए रखना था। इसीलिए दंड व्यवस्था भी समान नहीं थी।[6] वह व्यक्ति की आयु, सामाजिक स्थिति, परिस्थिति और आशय पर निर्भर करती थी। यह तथ्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्व–औपनिवेशिक भारतीय समाज में नैतिकता और विधि के बीच कठोर विभाजन नहीं था, बल्कि दोनों का संबंध सामाजिक

समन्वय से था। अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति जैसे ग्रंथों में समान–लिंगी संबंधों को सामाजिक अनुशासन के दायरे में रखा गया, किन्तु उन्हें घोर अपराध या राजद्रोह जैसी श्रेणियों में नहीं रखा गया। अर्थशास्त्र की दंड व्यवस्था मुख्यतः राज्य की स्थिरता और सार्वजनिक व्यवस्था पर केंद्रित थी। यौन व्यवहार को प्रायः निजी आचरण की श्रेणी में रखा गया। इसी प्रकार मनुस्मृति में उल्लिखित दंड प्रतीकात्मक और प्रायश्चितपरक (penitential)[7] अधिक हैं, न कि कारावास या कठोर शारीरिक दंड आधारित। इससे संकेत मिलता है कि उस समय यौनिकता को विधिक अपराध के रूप में नहीं बल्कि सामाजिक–नैतिक संतुलन के प्रश्न के रूप में देखा जाता था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि धर्मशास्त्रीय साहित्य में व्यवहार और प्रायश्चित (prayaschitt) की अवधारणाएँ दंडात्मक न्याय से अधिक सुधारात्मक न्याय की ओर संकेत करती हैं। इसका अर्थ यह है कि इसका उद्देश्य व्यक्ति को समाज से बहिष्कृत करना नहीं, बल्कि उसे पुनः सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित करना था। इस दृष्टि से यौन विविधता को सामाजिक विकृति के रूप में नहीं बल्कि विचलन (deviation) के रूप में समझा गया, जिसके प्रति प्रतिक्रिया लचीली थी।[8]

भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं में यह लचीलापन धार्मिक–सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में भी दिखाई देता है। भक्ति परंपरा में 'सखी भाव' एक महत्वपूर्ण उदाहरण है, जहाँ भक्त स्वयं को ईश्वर का प्रिय या सखी मानकर स्त्रीलिंगी भाव धारण करता है। यह केवल प्रतीकात्मक भक्ति–भाव नहीं बल्कि लिंग की अनुभूति के सांस्कृतिक पुनर्गठन का रूप है। इसमें पुरुष भक्त स्त्री–पहचान को आध्यात्मिक अनुभव के माध्यम के रूप में स्वीकार करता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि लिंग को स्थिर जैविक श्रेणी के रूप में नहीं देखा गया। सूफी साहित्य में भी प्रेम की अवधारणा लौकिक और अलौकिक के बीच सीमाओं को भंग करती है। सूफी कविताओं में प्रियतम की लिंग पहचान अक्सर अस्पष्ट रहती है, जिससे प्रेम को आध्यात्मिक अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यह अस्पष्टता केवल काव्यात्मक उपकरण नहीं, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टि से लिंग और कामना की बहुलता को स्वीकृति देने वाला संकेत है। लोक परंपराओं में जोगप्पा परंपरा और किन्नर समुदाय इसके जीवंत उदाहरण हैं। जोगप्पा समुदाय में व्यक्ति धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से पारंपरिक लिंग पहचान से भिन्न भूमिका ग्रहण करता है। यह भूमिका केवल सामाजिक सहिष्णुता पर आधारित नहीं बल्कि धार्मिक वैधता (ritual legitimacy) से संरक्षित होती है।[9] इसी प्रकार किन्नर समुदाय अनेक धार्मिक अनुष्ठानों, विशेषतः जन्म और विवाह, में शुभत्व के प्रतीक के रूप में उपस्थित रहता है। यह उपस्थिति सामाजिक बहिष्कार नहीं बल्कि सांस्कृतिक मान्यता का संकेत देती है। मंदिर स्थापत्य, मूर्तिकला और शिल्पकला में भी यौन विविधता के संकेत मिलते हैं। विभिन्न मंदिरों की मूर्तियों में विविध यौन मुद्राएँ केवल कामुकता का प्रदर्शन नहीं बल्कि जीवन की समग्रता (totality of life) का प्रतीक मानी जाती थीं। इन कलात्मक रूपों में समान–लिंगी निकटता, उभयलिंगी आकृतियाँ और लिंग–परिवर्तन

की प्रतीकात्मक छवियाँ भी मिलती हैं, जो उस समय की सांस्कृतिक कल्पना में यौनिकता की बहुलता को दर्शाती हैं।[10]

इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में वैकल्पिक लैंगिक पहचानें सामाजिक–धार्मिक संरचनाओं के बाहर नहीं थीं, बल्कि उन्हीं के भीतर अर्थपूर्ण स्थान रखती थीं। पूर्व–औपनिवेशिक भारतीय संदर्भ में यौन विविधता को नैतिक–सामाजिक विमर्श के रूप में समझा जाता था, न कि कठोर विधिक अपराध के रूप में। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परंपरा यह संकेत देती है कि यौनिकता का प्रश्न आधुनिक पहचान राजनीति (identity politics) के उदय के साथ उत्पन्न नहीं हुआ, बल्कि वह ऐतिहासिक रूप से सामाजिक संरचना, धार्मिक अनुभव और सांस्कृतिक प्रतीकवाद के साथ अंतर्निहित रूप से जुड़ा रहा है। औपनिवेशिक काल में जब विधिक श्रेणियाँ कठोर हुईं, तब इस लचीले सामाजिक दृष्टिकोण का स्थान दंडात्मक वैधानिक दृष्टि ने ले लिया। इसलिए भारतीय ऐतिहासिक अनुभव को समझे बिना समकालीन यौनिकता–विमर्श का सम्यक् विश्लेषण संभव नहीं है।[11]

औपनिवेशिक कानून और अपराधीकरण

भारतीय समाज में यौनिकता के प्रति दृष्टिकोण में निर्णायक परिवर्तन औपनिवेशिक काल के दौरान हुआ। पूर्व–औपनिवेशिक सामाजिक व्यवस्था में यौन व्यवहार मुख्यतः सामाजिक–नैतिक अनुशासन का विषय था, किन्तु औपनिवेशिक शासन ने इसे विधिक अपराध (legal crime) की श्रेणी में रूपांतरित कर दिया। इस परिवर्तन ने केवल कानून को नहीं बदला, बल्कि सामाजिक चेतना, नैतिकता और पहचान की संरचना को भी पुनर्परिभाशित किया। औपनिवेशिक राज्य का उद्देश्य केवल प्रशासनिक नियंत्रण नहीं था, बल्कि सामाजिक जीवन को 'सभ्य' (civilized) बनाने का दावा भी था।[12] इसी प्रक्रिया में विक्टोरियन नैतिकता (Victorian morality) को भारतीय समाज पर लागू किया गया। विक्टोरियन नैतिकता यौनिकता को निजी, प्रजनन–केन्द्रित और विषमलैंगिक (heteronormative) ढाँचे तक सीमित करती थी। इस नैतिक ढाँचे में वे सभी व्यवहार जो प्रजननात्मक परिवार–व्यवस्था के बाहर आते थे, उन्हें अनैतिक या विकृत (deviant) माना गया। इसी वैचारिक आधार पर भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) का निर्माण किया गया। धारा 377 इस प्रक्रिया का प्रमुख उदाहरण है, जिसमें (unnatural offences) की श्रेणी बनाकर समान–लिंगी संबंधों को अपराध घोषित किया गया। यह श्रेणी भारतीय सामाजिक परंपराओं से उत्पन्न नहीं थी, बल्कि ब्रिटिश विधिक परंपरा का आयात थी। इस कानून ने पहली बार यौनिकता को राज्य की निगरानी के अधीन कर दिया और निजी आचरण को सार्वजनिक अपराध में परिवर्तित कर दिया। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि औपनिवेशिक कानून ने केवल व्यवहार को नहीं बल्कि पहचान को भी निर्मित किया। पूर्व–औपनिवेशिक समाज में व्यक्ति को उसके कर्म या भूमिका से पहचाना जाता था, न कि स्थायी यौन पहचान से। औपनिवेशिक विधि ने (homosexual) को एक स्थायी श्रेणी के रूप में निर्मित किया अर्थात् व्यक्ति अब केवल किसी व्यवहार में संलग्न नहीं

था, बल्कि एक विशिष्ट प्रकार का 'व्यक्ति' बन गया। इस प्रकार कानून ने सामाजिक वास्तविकता को केवल नियंत्रित नहीं किया, बल्कि उसे निर्मित भी किया। औपनिवेशिक शासन ने ज्ञान–उत्पादन (knowledge production) के माध्यम से भी इस अवधारणा को मजबूत किया। जनगणना, नृविज्ञान (anthropology), चिकित्साशास्त्र और अपराधविज्ञान के माध्यम से भारतीय समाज का वर्गीकरण किया गया। इस प्रक्रिया में किन्नर, हिजड़ा और अन्य गैर–मानक लैंगिक समुदायों को 'अपराधी जनजाति' या 'असामान्य' श्रेणियों में रखा गया। इस प्रकार सांस्कृतिक समुदायों को जैविक विकृति के रूप में परिभाषित किया गया। औपनिवेशिक चिकित्सा–विज्ञान ने भी यौनिकता को रोग (pathology) के रूप में प्रस्तुत किया। यूरोपीय मनोचिकित्सकीय सिद्धांतों के प्रभाव में समान–लिंगी आकर्षण को मानसिक विकार माना गया। इससे सामाजिक दृष्टिकोण और कठोर हुआ, क्योंकि अब यह केवल धार्मिक या नैतिक समस्या नहीं रहा, बल्कि 'वैज्ञानिक रूप से सिद्ध' विकृति के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस वैज्ञानिकता ने कानून और समाज दोनों को वैधता प्रदान की।[13]

औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली ने भी इस दृष्टिकोण को समाज में गहराई तक स्थापित किया। आधुनिक शिक्षित मध्यवर्ग ने विक्टोरियन नैतिकता को आधुनिकता का प्रतीक मान लिया। परिणामस्वरूप भारतीय समाज के कई वर्गों ने अपनी ही परंपराओं को 'असभ्य' और 'पिछड़ा' समझना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार औपनिवेशिक नैतिकता धीरे–धीरे स्वदेशी नैतिकता के रूप में अंतर्निहित हो गई। यहाँ एक महत्वपूर्ण विरोधाभास उत्पन्न हुआ। राष्ट्रवाद ने सांस्कृतिक गौरव की बात की, किन्तु नैतिकता के क्षेत्र में वही औपनिवेशिक मूल्य बनाए रखे। राष्ट्रवादी नेताओं ने परिवार को राष्ट्र की आधारभूत इकाई के रूप में स्थापित किया और 'आदर्श भारतीय परिवार' की छवि निर्मित की, जो एकपत्नीक, प्रजनन–केन्द्रित और लैंगिक रूप से स्पष्ट था। इस प्रक्रिया में वैकल्पिक यौन पहचानें राष्ट्र–निर्माण की कल्पना से बाहर कर दी गईं। इस प्रकार औपनिवेशिक काल में समलैंगिकता का प्रश्न केवल कानून का विषय नहीं रहा, बल्कि सामाजिक अस्मिता (social identity) का प्रश्न बन गया। समाज ने कानून की भाषा को अपनाया और नैतिकता को अपराध की दृष्टि से देखने लगा। परिणामस्वरूप पूर्व–औपनिवेशिक लचीलापन कठोर सामाजिक निषेध (taboo) में परिवर्तित हो गया। स्वतंत्रता के बाद भी यह विरासत समाप्त नहीं हुई। भारतीय राज्य ने अनेक औपनिवेशिक कानूनों को यथावत बनाए रखा, जिससे सामाजिक मानसिकता में परिवर्तन नहीं आ सका। यद्यपि संविधान ने समानता और गरिमा के सिद्धांत स्थापित किए, परंतु सामाजिक व्यवहार लंबे समय तक औपनिवेशिक नैतिकता से प्रभावित रहा। इस प्रकार औपनिवेशिक शासन ने यौनिकता की एक नई सामाजिक–विधिक वास्तविकता का निर्माण किया, जिसमें व्यवहार, पहचान और नैतिकता तीनों को पुनर्गठित किया गया। समलैंगिकता का अपराधीकरण भारतीय परंपरा की निरंतरता नहीं, बल्कि औपनिवेशिक आधुनिकता का परिणाम था। इसलिए

समकालीन विमर्श को समझने के लिए औपनिवेशिक ज्ञान–राजनीति (colonial knowledge politics) की भूमिका का विश्लेषण अनिवार्य है।[14]

धर्म और समाज (समाज व्यवस्था)

भारतीय समाज में यौनिकता का नियमन केवल विधिक संस्थाओं द्वारा संचालित प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक ढाँचे के भीतर संचालित होता है जिसे सामान्यतः 'समाज' (samaj) कहा जाता है। यहाँ राज्य एक औपचारिक नियामक संस्था के रूप में उपस्थित अवश्य है, परन्तु दैनिक जीवन के स्तर पर व्यवहार के मानदंड परिवार, जाति–समूह, बिरादरी, पंचायत तथा स्थानीय परंपराओं द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक स्वीकृति, विधिक वैधता से अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है। यौन व्यवहार की वैधता का निर्धारण प्रायः न्यायालयों से पहले सामाजिक प्रतिष्ठा और सामुदायिक मान्यता द्वारा किया जाता है। भारतीय सामाजिक संरचना का मूल आधार विवाह संस्था है, जिसे केवल व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं बल्कि सामाजिक दायित्व माना जाता है। विवाह परिवारों के बीच गठबंधन, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा वंश–परंपरा के संरक्षण का माध्यम है। इस कारण यौनिकता को प्रजनन (reproduction) से घनिष्ठ रूप से जोड़ा जाता है।[15] सन्तति उत्पत्ति केवल जैविक प्रक्रिया नहीं बल्कि सामाजिक निरन्तरता का प्रतीक मानी जाती है। परिणामस्वरूप यौन संबंधों की वैधता का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाता है कि वे वंश–विस्तार की सामाजिक अपेक्षा को पूरा करते हैं या नहीं। इसी संदर्भ में समलैंगिकता को प्रायः सामाजिक संरचना के लिए चुनौती के रूप में देखा जाता है। चूँकि समान–लिंगी सम्बन्ध पारंपरिक विवाह व्यवस्था और उत्तराधिकार की अवधारणा से सीधे संबद्ध नहीं होते, अतः उन्हें सामाजिक स्थिरता के लिए विचलन के रूप में परिभाषित किया जाता है। यह धारणा केवल नैतिकता पर आधारित नहीं होती, बल्कि सामाजिक संगठन की उस संरचना से जुड़ी होती है जिसमें परिवार आर्थिक, भावनात्मक और सांस्कृतिक सुरक्षा का प्राथमिक स्रोत होता है। इसलिए समलैंगिक व्यक्तियों के प्रति प्रतिक्रिया केवल व्यक्तिगत असहमति नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण की चिंता के रूप में प्रस्तुत की जाती है। भारतीय संदर्भ में 'इज्जत' (honour) की अवधारणा भी इस विमर्श को प्रभावित करती है। परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा को सामूहिक पहचान से जोड़ा जाता है और व्यक्तिगत व्यवहार को उसी के संदर्भ में परखा जाता है। इस कारण यौनिकता को निजी विषय के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि परिवार की सार्वजनिक छवि से जुड़ा प्रश्न माना जाता है। अनेक स्थितियों में व्यक्ति की इच्छा की तुलना में परिवार की प्रतिष्ठा को प्राथमिकता दी जाती है, जिससे समलैंगिक पहचान की सार्वजनिक अभिव्यक्ति सामाजिक दबाव का विषय बन जाती है। धार्मिक दृष्टि से भारतीय परंपरा एकरूप नहीं है, बल्कि बहुस्तरीय व्याख्याओं से युक्त है। कुछ धार्मिक व्याख्याएँ यौनिकता को धर्मशास्त्रीय आचार–संहिताओं के अनुसार परिभाषित करती हैं और प्रजनन–केन्द्रित विवाह को आदर्श मानती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में समलैंगिकता को

प्राकृतिक व्यवस्था से विचलन के रूप में देखा जाता है। विशेषतः नैतिक अनुशासन और सामाजिक कर्तव्य पर आधारित धार्मिक प्रवचनों में इसे मर्यादा–भंग के रूप में निरूपित किया जाता है।[16]

इसके विपरीत भारतीय आध्यात्मिक परंपराओं में एक वैकल्पिक दृष्टिकोण भी विद्यमान है, जहाँ मानव अनुभव की विविधता को व्यापक अस्तित्व का अंग माना जाता है। अनेक दार्शनिक धाराएँ आत्मा को शरीर से परे मानती हैं और लिंग को स्थायी पहचान के रूप में नहीं देखतीं। इस प्रकार आध्यात्मिक विमर्श में यौनिकता को नैतिक अपराध के रूप में नहीं, बल्कि मानवीय अनुभव के विविध आयामों में से एक के रूप में समझने की संभावना दिखाई देती है। यही कारण है कि भारतीय धार्मिक परंपरा में विरोध और सहिष्णुता दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ विद्यमान रहती हैं। एक ओर शास्त्रीय अनुशासन आधारित नैतिकता है, दूसरी ओर अनुभवात्मक आध्यात्मिकता की समावेशी दृष्टि। यह द्वैत आधुनिक भारत में सामाजिक संघर्ष का प्रमुख कारण बनता है, क्योंकि विभिन्न समूह अपनी–अपनी व्याख्या को सांस्कृतिक सत्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। समकालीन भारत में यह संघर्ष केवल धर्म और आधुनिकता के बीच नहीं, बल्कि धर्म की भिन्न–भिन्न व्याख्याओं के बीच भी है। एक पक्ष सामाजिक स्थिरता और परंपरा की रक्षा को प्राथमिकता देता है, जबकि दूसरा पक्ष व्यक्तिगत गरिमा और पहचान को मूल मानता है। इस प्रकार समलैंगिकता का प्रश्न केवल यौन व्यवहार का प्रश्न नहीं रह जाता, बल्कि सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीच संबंधों की पुनर्परिभाषा का प्रश्न बन जाता है। अंततः 'समाज' (samaj) भारतीय संदर्भ में एक जीवित संस्था के रूप में कार्य करता है, जो कानून से स्वतंत्र होकर भी व्यक्तियों के जीवन को गहराई से प्रभावित करता है। इसलिए यौनिकता पर होने वाली बहस केवल विधिक सुधारों से समाप्त नहीं होती, बल्कि सामाजिक और धार्मिक विमर्श में परिवर्तन की दीर्घकालिक प्रक्रिया से ही परिवर्तित होती है। यही कारण है कि समकालीन भारत में समलैंगिकता की स्वीकृति एक साथ प्रगति और प्रतिरोध दोनों का अनुभव कराती है।[17]

संवैधानिक नैतिकता और विधिक परिवर्तन

भारतीय न्यायपालिका ने हाल के दशकों में LGBTQ अधिकारों की दिशा में एक महत्वपूर्ण वैचारिक और विधिक परिवर्तन को रूपायित किया है। इस परिवर्तन का आधार केवल विधिक एवं तकनीकी नहीं, बल्कि संविधान के मूल्यों की पुनर्व्याख्या रहा है, जिसे प्रायः संवैधानिक नैतिकता (constitutional morality) की अवधारणा के अंतर्गत समझा जाता है। न्यायालयों ने यह प्रतिपादित किया कि संविधान केवल शासन की संरचना निर्धारित करने वाला दस्तावेज नहीं, बल्कि नागरिकों की गरिमा, स्वतंत्रता और समानता की रक्षा करने वाला नैतिक मानक भी है। समानता (equality), गरिमा (dignity) और निजता (privacy) के संवैधानिक सिद्धांतों को आधार बनाकर समलैंगिकता को अपराध की श्रेणी से बाहर किया गया। न्यायिक तर्क यह था कि राज्य को व्यक्ति के निजी जीवन और आत्म–पहचान में अनावश्यक

हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। यौनिक अभिविन्यास को व्यक्ति की स्वायत्तता और व्यक्तित्व के विकास का अभिन्न अंग माना गया, जिसे दंडित करना संवैधानिक मूल्यों के विरुद्ध है। इस प्रकार विधिक विमर्श में पहली बार यौनिकता को नैतिक अपराध के बजाय मौलिक अधिकारों के संदर्भ में समझा गया।[18]

न्यायपालिका ने यह भी स्पष्ट किया कि बहुमत की सामाजिक नैतिकता को संवैधानिक अधिकारों पर वरीयता नहीं दी जा सकती। यदि किसी समुदाय की पहचान बहुसंख्यक सामाजिक मान्यताओं से भिन्न है, तो भी राज्य का दायित्व उस पहचान की रक्षा करना है। इस दृष्टिकोण ने 'लोक नैतिकता' (public morality) के स्थान पर 'संवैधानिक नैतिकता' को प्राथमिकता प्रदान की, जिससे अधिकारों की अवधारणा समाज की स्वीकृति पर निर्भर न रहकर संवैधानिक सिद्धांतों पर आधारित हुई। फिर भी विधिक परिवर्तन के बावजूद सामाजिक स्वीकृति सीमित बनी हुई है। न्यायालय द्वारा अपराध–मुक्ति (decriminalization) का अर्थ सामाजिक मान्यता नहीं है। अनेक परिवारों में समलैंगिक पहचान को अस्वीकार किया जाता है और इसे पारिवारिक प्रतिष्ठा या सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध माना जाता है। परिणामस्वरूप व्यक्तियों को अपनी पहचान छिपाने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जिससे मानसिक तनाव और आत्म–संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। रोजगार के क्षेत्र में भी अप्रत्यक्ष भेदभाव विद्यमान रहता है, जहाँ नियुक्ति, पदोन्नति अथवा कार्यस्थल के वातावरण में असमान व्यवहार देखा जाता है। शिक्षा संस्थानों में उपहास, सामाजिक अलगाव तथा संस्थागत असंवेदनशीलता की स्थितियाँ सामने आती हैं। स्वास्थ्य सेवाओं में भी पर्याप्त समझ और संवेदनशीलता का अभाव अनेक बार उचित उपचार में बाधा उत्पन्न करता है। इस प्रकार विधिक अधिकारों की औपचारिक उपलब्धता वास्तविक सामाजिक अनुभव में समानता सुनिश्चित नहीं कर पाती।[19]

इन परिस्थितियों से स्पष्ट होता है कि विधिक सुधार सामाजिक परिवर्तन की पर्याप्त शर्त नहीं है। कानून व्यवहार के लिए ढाँचा प्रदान कर सकता है, परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण का परिवर्तन दीर्घकालिक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। जब तक परिवार, शिक्षा और सामुदायिक संरचनाओं में स्वीकृति विकसित नहीं होती, तब तक संवैधानिक अधिकारों का पूर्ण अनुभव संभव नहीं हो पाता। अतः समकालीन भारत में LGBTQ अधिकारों का प्रश्न केवल न्यायिक निर्णयों का परिणाम नहीं, बल्कि कानून और समाज के परस्पर संबंधों की जटिल प्रक्रिया है। संवैधानिक नैतिकता ने विधिक आधार प्रदान किया है, परन्तु सामाजिक नैतिकता के रूपांतरण की प्रक्रिया अभी भी गतिशील और अपूर्ण बनी हुई है।[20]

भारतीय ज्ञान परंपरा का दृष्टिकोण

प्राचीन धार्मिक ग्रंथों का संग्रह मानना एक सीमित समझ है। भारतीय इसे एक जीवित बौद्धिक परंपरा के रूप में देखते हैं, जिसका मूल उद्देश्य समाज में संतुलन (social harmony), सह–अस्तित्व (coexistence) और अनुकूलन (daptability) को बनाए रखना है। भारतीय ज्ञान प्रणाली किसी एक स्थिर सत्य (absolute truth)

पर आधारित न होकर अनुभव, आचार और व्यवहार (practice-based epistemology) पर आधारित है। इसलिए यहाँ नैतिकता (morality) सार्वभौमिक और कठोर नियमों से नहीं बल्कि संदर्भ (context) और लोकव्यवहार से निर्धारित होती है। 'धर्म' का अर्थ कानून या पाप–पुण्य की द्वैतवादी अवधारणा नहीं है, बल्कि समाज के संचालन का संतुलनकारी सिद्धांत है। धर्म का कार्य किसी व्यवहार को दंडित करना नहीं बल्कि सामाजिक समरसता बनाए रखना है। इसीलिए भारतीय परंपरा में विचलन (deviation) को अपराध की बजाय 'असामान्यता' (variation) के रूप में देखा जाता था, जिसे समाज अपने भीतर समाहित करने का प्रयास करता था। भारतीय ज्ञान प्रणाली पहचान (identity) को स्थिर नहीं मानती। व्यक्ति का स्वरूप कर्म, संस्कार और अनुभव से निर्मित होता है, इसलिए लिंग और यौनिकता भी अपरिवर्तनीय जैविक श्रेणियाँ नहीं बल्कि सामाजिक–अनुभवात्मक अवस्थाएँ हैं। इसी कारण भारतीय समाज में किन्नर, सखी–भाव, जोगप्पा जैसी परंपराएँ पूर्ण बहिष्कार के बजाय सीमित स्वीकृति के साथ अस्तित्व में बनी रहीं। यह दर्शाता है कि भारतीय समाज पूर्णतः दमनकारी न होकर नियंत्रित सहिश्णुता (regulated tolerance) पर आधारित रहा है। इस दृष्टिकोण से समलैंगिकता को भारतीय ज्ञान प्रणाली में नैतिक पतन या सामाजिक विघटन के रूप में नहीं बल्कि मानव अनुभव की विविध अभिव्यक्ति के रूप में समझा जा सकता है, बशर्ते वह सामाजिक संतुलन को भंग न करे। अतः भारतीय ज्ञान परंपरा का मूल आग्रह दमन (suppression) नहीं बल्कि संतुलन (balance) है, जो आधुनिक संवैधानिक मूल्यों जैसे गरिमा, स्वतंत्रता और समानता से वैचारिक रूप से टकराता नहीं बल्कि उन्हें सांस्कृतिक आधार प्रदान कर सकता है।[21]

भारतीय ज्ञान परंपरा (Indian Knowledge System – IKS) का मूल सिद्धांत 'एकत्व में विविधता' की अवधारणा पर आधारित है, जिसमें अस्तित्व को एक समग्र वास्तविकता के रूप में देखा जाता है और उसके भीतर उपस्थित भिन्नताओं को विरोधाभास नहीं, बल्कि स्वाभाविक अभिव्यक्ति माना जाता है। उपनिषदों का अद्वैत दृष्टिकोण इस विचार को स्थापित करता है कि परम सत्य एक है, परन्तु उसकी अभिव्यक्तियाँ अनेक रूपों में प्रकट होती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में पहचान (identity) को स्थिर और अपरिवर्तनीय नहीं, बल्कि अनुभव और चेतना से निर्मित प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है। व्यक्ति की बाह्य अवस्थाएँ उसके आंतरिक अस्तित्व का अंतिम निर्धारक नहीं होतीं। भारतीय दार्शनिक परंपराओं में प्रकृति और पुरुष की अवधारणा भी बहुलता को स्वीकार करती है। यहाँ सृष्टि को द्वैत के कठोर विभाजन में नहीं बाँधा गया, बल्कि विभिन्न गुणों और प्रवृत्तियों के संतुलन के रूप में समझा गया है। इससे संकेत मिलता है कि मानवीय व्यक्तित्व अनेक स्तरों पर निर्मित होता है और उसमें भिन्नताओं की उपस्थिति स्वाभाविक है। अतः लिंग और यौनिकता को केवल जैविक निर्धारण के रूप में नहीं, बल्कि अनुभवात्मक और मनोवैज्ञानिक आयामों से युक्त माना जा सकता है।

IKS के अनुसार 'धर्म' का अर्थ केवल विधिक नियम या निषेध नहीं है, बल्कि सामाजिक संतुलन और समन्वय की अवधारणा है। धर्म उस व्यवस्था को कहा गया है जो समाज और व्यक्ति के बीच संतुलित सम्बन्ध बनाए रखे। यदि किसी व्यवहार से सामाजिक संरचना का विनाश नहीं होता और वह सामूहिक जीवन के संतुलन को बाधित नहीं करता, तो उसे अनिवार्य रूप से अधर्म नहीं माना जाता। इस प्रकार धर्म का आषय दंडात्मक नियंत्रण से अधिक समन्वयात्मक व्यवस्था से है। भारतीय समाज में किन्नर समुदाय की ऐतिहासिक स्वीकृति इस सिद्धांत का व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करती है। विभिन्न सामाजिक और धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी उपस्थिति को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया गया, बल्कि विशिष्ट सांस्कृतिक भूमिका प्रदान की गई। इससे यह संकेत मिलता है कि वैकल्पिक लैंगिक पहचानें पूर्ण बहिष्कार के बजाय सामाजिक संरचना के भीतर स्थान प्राप्त कर सकती थीं। यह स्वीकृति पूर्ण समानता का रूप नहीं थी, किन्तु अस्तित्व के अधिकार की मान्यता अवश्य थी। इस दृष्टिकोण से समलैंगिकता को नैतिक पतन के रूप में परिभाषित करना भारतीय ज्ञान परंपरा की व्यापक दार्शनिक प्रवृत्ति से अनिवार्य रूप से मेल नहीं खाता। यदि अस्तित्व की विविधता को मूल सिद्धांत माना जाए, तो समान–लिंगी आकर्षण को मानव अनुभव की विविध अभिव्यक्तियों में से एक के रूप में समझा जा सकता है। यहाँ प्रश्न नैतिक विचलन का नहीं, बल्कि सामाजिक संतुलन और मानवीय गरिमा के संरक्षण का बन जाता है। अतः प्ज्ञै के परिप्रेक्ष्य में यौनिकता का मूल्यांकन दंडात्मक नैतिकता के आधार पर नहीं, बल्कि सहअस्तित्व और संतुलन के सिद्धांत पर किया जा सकता है। यह दृष्टिकोण व्यक्तियों की भिन्नताओं को सामाजिक विघटन के रूप में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक बहुलता के रूप में देखने की संभावना प्रदान करता है और मानव अनुभव की विविध अभिव्यक्तियों को समझने के लिए एक व्यापक वैचारिक आधार प्रस्तुत करता है।[22]

समलैंगिक विवाह पर विमर्श

समलैंगिक विवाह का प्रश्न समकालीन भारत में केवल नागरिक अधिकारों की बहस तक सीमित नहीं रहा है, बल्कि यह परिवार की अवधारणा, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक निरंतरता के व्यापक विमर्श से जुड़ गया है। विवाह भारतीय समाज में केवल दो व्यक्तियों के बीच निजी संबंध नहीं माना जाता, बल्कि यह सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक दायित्वों से युक्त संस्था है। इस कारण जब समान–लिंगी व्यक्तियों के विवाह की चर्चा होती है, तो वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ–साथ सामाजिक व्यवस्था की परिभाषा को भी प्रभावित करती है। एक पक्ष इसे समानता के सिद्धांत का तार्किक विस्तार मानता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यदि राज्य सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान करता है, तो विवाह जैसे सामाजिक और विधिक अधिकार से किसी समूह को केवल उनकी यौनिक पहचान के आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता। यहाँ विवाह को गरिमा, सुरक्षा, उत्तराधिकार, सामाजिक मान्यता और साझेदारी से संबंधित अधिकारों की संरचना के रूप में देखा

जाता है। अतः समलैंगिक विवाह को मान्यता देना समान नागरिकता (equal citizenship) की दिशा में आवश्यक कदम माना जाता है।[23]

दूसरा पक्ष इसे पारंपरिक सामाजिक संरचना के विरुद्ध परिवर्तन के रूप में देखता है। इस दृष्टिकोण में विवाह को परिवार और वंश–परंपरा की निरंतरता का आधार माना जाता है, जहाँ संतति–उत्पत्ति उसकी केन्द्रीय भूमिका है। इसलिए समान–लिंगी विवाह को उस व्यवस्था से भिन्न माना जाता है जिस पर समाज की स्थिरता आधारित मानी जाती है। इस तर्क में आशंका व्यक्त की जाती है कि यदि विवाह की परिभाषा परिवर्तित होती है, तो परिवार की पारंपरिक संरचना भी प्रभावित हो सकती है। यदि विवाह को केवल प्रजनन संस्था के रूप में परिभाषित किया जाए, तो विरोध का तर्क स्वाभाविक प्रतीत होता है, क्योंकि समान–लिंगी संबंध जैविक संतति से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध नहीं होते। परन्तु यदि विवाह को भावनात्मक साझेदारी, पारस्परिक उत्तरदायित्व और जीवन–सहचर्य के संबंध के रूप में समझा जाए, तो उसका विस्तार तार्किक रूप से संभव प्रतीत होता है। आधुनिक शहरी संदर्भों में विवाह का अर्थ केवल संतति–उत्पत्ति तक सीमित नहीं रह गया, बल्कि यह भावनात्मक सुरक्षा, व्यक्तिगत चयन और समान सहभागिता का संबंध बनता जा रहा है।[24]

इस प्रकार समलैंगिक विवाह की बहस मूलतः विवाह की परिभाषा को लेकर दो भिन्न दृष्टिकोणों के बीच संवाद है। एक जो इसे जैविक और सामाजिक पुनरुत्पादन की संस्था मानता है और दूसरा जो इसे व्यक्तिगत साझेदारी और अधिकारों की संरचना के रूप में देखता है। परिणामस्वरूप यह प्रश्न केवल विधिक मान्यता का नहीं, बल्कि सामाजिक अर्थों के पुनर्निर्माण का विषय बन जाता है। अतः समकालीन भारत में समलैंगिक विवाह पर विमर्श व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक परंपरा के बीच संतुलन खोजने का प्रयास है, जहाँ दोनों पक्ष अपने–अपने तर्कों के माध्यम से विवाह संस्था की वैधता और उद्देश्य को पुनर्परिभाषित कर रहे हैं।[25]

निष्कर्ष

भारतीय संदर्भ में समलैंगिकता को किसी एक आयाम में सीमित करके समझना संभव नहीं है। यह न तो पूर्णतः आधुनिक घटना है और न ही पूर्णतः बाह्य या विदेशी प्रभाव का परिणाम। ऐतिहासिक स्रोतों से यह संकेत मिलता है कि यौन विविधता भारतीय समाज में विभिन्न रूपों में विद्यमान रही है, यद्यपि उसकी सामाजिक अभिव्यक्ति समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रही। औपनिवेशिक विधिक संरचनाओं ने इसे अपराध की श्रेणी में स्थापित किया, जिससे यौनिकता का प्रश्न नैतिक और सामाजिक विमर्श से हटकर दंडात्मक विधिक व्यवस्था का विषय बन गया। आधुनिक संवैधानिक व्यवस्था इस स्थिति का पुनर्मूल्यांकन करते हुए इसे पुनः मानवीय गरिमा और मौलिक अधिकारों के संदर्भ में स्थापित करने का प्रयास कर रही है। समकालीन भारत में यह प्रक्रिया केवल विधिक परिवर्तन तक सीमित नहीं है, बल्कि इतिहास, समाज और पहचान के पुनर्पाठ से जुड़ी हुई है।

न्यायिक निर्णयों ने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्ति की यौनिक पहचान उसके व्यक्तित्व और स्वतंत्रता का अभिन्न अंग है, परन्तु सामाजिक स्वीकृति की प्रक्रिया अभी भी विकसित हो रही है। इस कारण एक ओर अधिकारों की संवैधानिक मान्यता है, तो दूसरी ओर सामाजिक व्यवहार में संकोच और प्रतिरोध भी उपस्थित है। Indian Knowledge System यह संकेत देता है कि भारतीय बौद्धिक परंपरा में विविधता के लिए स्थान विद्यमान रहा है। अस्तित्व की बहुलता को नकारा नहीं गया, बल्कि अनेक स्तरों पर स्वीकार किया गया, यद्यपि उसकी सामाजिक अभिव्यक्ति सीमित और संरचित रही। सामाजिक संरचना, परिवार व्यवस्था और नैतिक अनुशासन ने वैकल्पिक पहचानों को पूर्ण अस्वीकृति नहीं दी, परन्तु उन्हें नियंत्रित और परिधीय रूप में व्यवस्थित किया। इस प्रकार स्वीकृति और नियंत्रण दोनों प्रवषत्तियाँ साथ–साथ विद्यमान रहीं। अतः भविष्य की दिशा केवल विधिक सुधारों से निर्धारित नहीं होगी। कानून अधिकारों की औपचारिक मान्यता प्रदान कर सकता है, किन्तु वास्तविक परिवर्तन सांस्कृतिक पुनर्पाठ और सामाजिक संवेदनशीलता के विकास पर निर्भर करेगा। जब तक परिवार, शिक्षा और सामुदायिक संवाद के स्तर पर दृष्टिकोण परिवर्तित नहीं होते, तब तक संवैधानिक मान्यता का पूर्ण सामाजिक अनुभव संभव नहीं हो सकेगा।[26] इसलिए आवश्यक है कि विमर्श अधिकार और परंपरा के विरोध के रूप में नहीं, बल्कि समझ और सह–अस्तित्व की प्रक्रिया के रूप में विकसित हो। इस प्रकार भारतीय समाज में समलैंगिकता का प्रश्न केवल यौनिकता का नहीं, बल्कि इतिहास, संस्कृति, नैतिकता और अधिकारों के अंतर्संबंधों को समझने का प्रश्न है, जिसकी परिणति दीर्घकालिक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में ही संभव है।

संदर्भ

1. वानिता, रूथ एवं किदवई, सलीम, Same sex Love In India: Reading from Literature and History, नई दिल्ली, पेंगुइन बुक्स, 2021
2. नन्दा, सेरेना, Nither Man nor Woman: The Hijras of India – कैलिफोर्निया, वाईसवर्थ पब्लिशिंग, 1990
3. कपूर, रत्ना, ए लव सांग टू अवर मूंगरेल सेलवेस, हाइबरीडिटी, सेक्सुअलिटी एंड द ला, सोशल एंड लीगल स्ट्डीज, Vol 8, No-03
4. कौटिल्य अर्थशास्त्र, विभिन्न संस्करण।
5. मनुस्मृति, विभिन्न संस्करण।
6. सुश्रुत संहिता, पप्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथ।
7. उपनिषद, (विभिन्न अनुवाद एवं संस्करण)
8. भारत का संविधान (1950), भारत सरकार।
9. भारतीय दंड संहिता, 1860, (धारा 377)।
10. Naz Foundation v/s Government of NCT of Delhi दिल्ली उच्च न्यायालय, 2009।

11. Navtej Singh Johar v/s Union of India, सर्वोच्च न्यायालय, 2018।
12. AIDS Bhedbhav Virodhi Andolan (ABVA) Less Than Gay: A Citizens' Report on the Status of Homosexuality in India, नई दिल्ली, 1991
13. स्पेशल मैरिज एक्ट, 1954, भारत सरकार।
14. हिंदू विवाह अधिनियम, 1955, भारत सरकार।
15. संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) एवं (UNAIDS) की रिपोर्ट – भारत में लैंगिक अल्पसंख्यकों की स्थिति संबंधी विभिन्न प्रकाशन।
16. फूको, मिशेल, The History of Sexuality पेरिस गैलिमार्ड, 1978
17. Chandoke, Neera, The Logic of Recognition
18. Johwa, Wilson, N Culture-Zimbabwe Dogs and pigs no more, Inter Press Service, Johannesburg, 2004
19. ibid
20. फूको, मिशेल The History of Sexuality, पेरिस गैलिमार्ड, 1978
21. शर्मा, संजीव कुमार, भारतीय प्रज्ञाः परम्परा का पुण्य प्रवाह, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2023
22. वही
23. वनिता, रूथ, किदवई, सलीम, Same Sex Love in India: Reading from Literature and History नई दिल्ली, पेंगुइन बुक्स; 2021
24. Interviewed on 15, Feb, 2026, Delhi
25. वही
26. Sullivan, Andrew, Same-sex Marriage, Pro and con, New York Random House, 1997